डॉ. कैलाश नारद

बहादुर शाह का खत अपनी बेटी के नाम

4 अक्टूबर, 1958 की रात दो बजे लेफ्टिनेंट एडवर्ड ओमेनी ने बहादुर शाह जफर को जगाया। सुबह चार बजे उन्हें अपनी दो बेगमों, दो बेटों और सत्ताईस अन्य लोगों के साथ बैलगाड़ियों से रवाना कर दिया गया। दिल्ली में उनकी रवानगी की खबर किसी को कानों-कान नहीं हुई।

इलाहाबाद से कलकत्ता तक जफर को स्टीमर से ले जाया गया था। 4 दिसम्बर, 1858 को "मगर" नामक ब्रिटिश युद्धपोत से उन्हें रंगून भेजा गया।

रंगून में उन पर सख्त पहरा था। मिलने की इजाज़त तो दूर, वे खुलकर किसी से बातचीत भी नहीं कर सकते थे। सख्त नज़रबन्दी के बाद भी बहादुरशाह जफर ने अपनी कुछ चिट्ठियाँ दिल्ली पहुँचाईं। कुलसुम जमानी बेगम बहादुरशाह जफर की बड़ी बेटी थीं। वे दिल्ली में अँग्रेज़ों की कैद में थीं। उन्होंने किसी तरह से एक खत अपने कैदी बाप को रंगून भेजा था। उसके जवाब में लिखी गई चिट्ठी यहाँ पेश है:

कैदखाना-ए-रंगून
18 मई, 1860

तुमने अपने कैदी बाप को खत भेजा। खत क्या भेजा, मेरी जान, आँसूनामा था। जवाँबख्त (बेटे) ने पढ़कर सुनाया। एक दफा सुना, जी न भरा। फिर कहा, बेटा फिर सुनाना। फिर सुना। वह भी रोया। मेरी आँखें भी आँसुओं से भीग गईं। कहा, बाबा, एक दफा फिर पढ़ो। क्या लिखवाऊँ बेटी कि मुझ पर तुम्हारे खत का क्या असर हुआ। तीन दफा सुनने के बाद भी दिल को करार नहीं आया।

सच कहती हो। दिल्ली वाले मुझको रोते होंगे। वे क्या यह नहीं जानते, कि मैं भी उनको रोता हूँ। मैं तो ज़िन्दा बैठा हूँ। वे तो बिना आई मौत मर गए। कितनों के बाप, कितनों के बेटे, कितनों के भाई फाँसियों पर चढ़ गए। कितने बच्चे यतीम हो गए, कितनी औरतें बेवा हो गईं। घर लुट गए नहीं बल्कि खोद डाले गए और उन पर हल चलवा दिए गए। दिल्ली में जब मेरा मुकदमा चल रहा था, उसी ज़माने में तबाही और बरबादी के किस्से सुने थे। मेरे यहाँ आ जाने के बाद, पता नहीं और क्या-क्या परेशानियों शहरयालों पर पड़ी होंगी। सिपाहियों ने भी गज़ब किया था। भला, औरतों और बच्चों को मारना किस मज़हब में आता है? लेकिन, किया किसी ने, भरा किसी ने। तकदीर को यही मंजूर था। अब हँसें या रोएँ, कोई फायदा नहीं। हम सब कालेपानी में हैं। अपने वतन दिल्ली से सैकड़ों कोस दूर, घर से जुदा और ऐसे जुदा कि अब जीते-जी, किसी से मिलने की आस नहीं है। मुझे याद आया, जब तुम्हारी शादी हुई थी और "गालिब" और "जौक" ने तुम्हारी बारात की अगवानी के सेहरे लिखे थे।

अब यहाँ न वो लालकिला है, न सात ड्योढ़ियाँ हैं और न पहरेदार। बस, लकड़ी का एक पुराना-सा मकान है, जो बरसात में टपकता है और जिसमें दो-चार कमरों के सिवाय ज़्यादा गुंजाइश नहीं है। एक कमरे में शहजादे जवाँबख्त और बहू बेगम शाह जमानी का बसेरा है। दूसरे कमरे में मैं और मलिका-ए-आलम बसर करते हैं। तीसरे में नौकर हैं। चौथे में खाने और मिलने-जुलने वालों का इन्तज़ाम है। मुझे यहाँ की हवा रास नहीं आती। बारिश बहुत होती है। मच्छर भी बहुत हैं। अक्सर बुखार हो जाता है। मलिका-ए-आलम भी बीमार रहने लगी हैं। इस मुल्क की ज़बान और है। मज़हब और है। रहना-सहना, खाना-पीना सब हमारे वास्ते अजनबी हैं। ये लोग नहीं जानते कि हम कौन हैं और हमें यहाँ पर क्यों कैद किया गया है। यह एक ऐसी कैद है कि न हम कैद हैं और न आज़ाद। न ज़िन्दा हैं और न मुर्दा। अपने घर में, अपने शहर में, अपने मुल्क में नहीं जा सकते हैं इसलिए कैद हैं। जंज़ीर गले और पाँवों में नहीं है, इसलिए आज़ाद हैं। सब दोस्तों और रिश्तेदारों से जुदा हैं इसलिए मुर्दा हैं। बोलते-चलते, खाते-पीते हैं इसलिए ज़िन्दा हैं।

तुमने यहाँ आने को लिखा है। तुम आ सको तो मेरे कैदखाने में ईद होगी। मगर खबर नहीं कैद करने वाले तुमको आने देंगे, या रोक देंगे। अपनी जुबान से तो किसी को कुछ कहूँगा नहीं क्योंकि शुरू-शुरू में जो बात की, वह उलटे मेरे ऊपर मारी गई। इसके बाद मैंने फैसला कर लिया कि अब कभी कुछ नहीं कहूँगा। इनको हर बात पर शक होता है। ये यह नहीं सोचते कि मेरा यहाँ कौन है और जो जहाँ थे, वहाँ उन्होंने मेरी क्या मदद की?

मैंने अभी ज़िक्र किया था कि यह मकान बरसात के लिए अच्छा नहीं है। टपकता है और बौछार भी आती है। कोई और मकान होना चाहिए। जवाब मिला, "क्या तुम्हारे वास्ते लाल किला बनवाया जाए? यहाँ तो लकड़ी के ऐसे ही मकान बनते हैं। इससे अच्छा कोई मकान नहीं है।" मैं अपना-सा मुँह लेकर रह गया। मलिका ने कहा कि जवाब देना चाहिए कि यहाँ के लकड़ी के दूसरे मकान इस से दस दर्जे अच्छे हैं।

एक दफा बंगाल के कोई ज़मींदार मुझसे मिलने आए। मेरी किताब माँगी। मैंने एक गज़ल शहज़ादे जवाँबख्त से लिखवाकर उन्हें दे दी। वे बाहर गए तो उनकी तलाशी हुई। फिर मुझ पर इलज़ाम लगा दिया कि गज़ल देने का मेरा मकसद आखिर क्या था? कैदियों को कुछ भी देने की इजाज़त नहीं है। मलिका को फिर गुस्सा आ गया। मगर, मैंने कहा, "नाहक खफा होती हो। खुदा ने जब हमें कैदी बनाया है तो सब कुछ बर्दाश्त करना होगा।"

एक दफा की बात है। ईद थी। उस मौके पर चन्द मुसलमान मेरे लिए कुछ तोहफे लेकर आए। मैंने उनसे कहा, "भाई, ये तोहफे मैं नहीं ले सकता।" उन्होंने जब बहुत कहा तो कुछ तोहफे ले लिए। उसके एवज़ में मैंने मलिका का एक हार उनको दे दिया। दूसरे दिन हुक्म आया कि इन मुगलों के पास जवाहरात बहुत ज़्यादा हैं। इन कैदियों को दिया जाने वाला खर्चा इनकी ज़रूरत से ज़्यादा है। फिर वही हुआ, जिसका डर था। हमारा खर्चा आधा कर दिया गया।

बेटी, एक बात हो तो लिखवाऊँ। रोज़ ऐसी ही बातें होती हैं। अब तो कलेजा पत्थर का हो गया है। बहुत पहले असर होता था। कई-कई दफा सदमें की वजह से खाना नहीं खाया जाता था। मगर अब आदत-सी हो गई है। भूख तो दिल्ली में ही कम हो गई थी। यहाँ की हवा कुछ ऐसी है कि कई-कई दिन अगर नहीं खाता तो भी भूख नहीं लगती है।

क्या खबर कि यह खत तुमको मिलेगा भी या नहीं? सुनता हूँ, वे आदमी भरोसे के काबिल हैं, जिनके हाथ यह खत भेजा जाएगा। लेकिन कितने ही शख्स मैंने ऐसे देखे हैं, जो आखिर में दगाबाज़ और दूसरों के भेजे जासूस साबित हुए। लेकिन इस खत में मैंने ऐसा लिखा ही क्या है, जिसकी मुझे फिक्र हो। एक बाप ने एक बेटी को खत लिखवाया है। न इसमें अपने मुल्क की कोई बात है, न गैर-मुल्क की। हमारी कब्र परदेस में बनेगी, तय है। लेकिन अभी तो हम लकड़ी की भीगी हुई कब्र में ज़िन्दा ही दफन हैं। जब मर जाएँगे, तब भी कब्र में ही होंगे। बस, बेटी, खुदा हाफिज़।

– तुम्हारे कैदी बाप ने लिखवाया

सन् 1862 में बहादुरशाह ज़फर की उम्र जब 87 साल की थी, उनकी जबान की जड़ में लकवा मार गया। फिर, वह गले तक फैल गया। उनके सारे दाँत टूट चुके थे। इस वजह से उनका बोलना लगभग बन्द हो गया था। वे खाना भी नहीं निगल पाते थे। उस रोज़ 17 दिसम्बर की तारीख थी। रंगून में बारिश हो रही थी। सर्दी भी बढ़ आई थी। शुक्रवार की सुबह पाँच बजे आखिरी मुगल बादशाह बहादुरशाह ज़फर ने अन्तिम साँस ली। जेल के डॉक्टर डेविस ने पहले से ही मिट्टी, ईंट, चूने और नमक का इन्तज़ाम कर रखा था। जफर को जेल के पिछवाड़े दफना दिया गया। डॉक्टर डेविस ने लिखा है, "मुझे गवर्नर जनरल का आदेश था कि जफर और उनके परिवार को कोई सुविधा देने के बारे में पत्र-व्यवहार न किया जाए। और उनका उल्लेख 'हिन्दुस्तान के बादशाह' नहीं बल्कि 'राजकीय कैदी' कहकर किया जाए।"

करीब पन्द्रह दिन बाद, 2 जनवरी, 1863 के *अवध अखबार* में बहुत छोटी-सी खबर छापी–

शाही कैदी बहादुरशाह ज़फर का रंगून के कैदखाने में लम्बी बीमारी के बाद 17 दिसम्बर को इन्तकाल हो गया।

बहादुरशाह की गज़ल का एक शेर

न किसी की आँख का नूर हूँ, न किसी के दिल का करार हूँ
जो किसी के काम न आ सका मैं वो एक मुश्ता-ए-गुबार हूँ....*

*मुश्ता-ए-गुबार- एक मुट्ठी धूल

सज्जाः कनक